भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकलपनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

अरविन्द का समाज दर्शन

राजीव कुमार शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

समकालीन भारतीय दर्शन के पुनरुत्थान का श्रेय जिन दार्शनिकों को दिया जाता है उनमें श्री अरविन्द का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा को आध्यात्मिकता माना और इस आध्यात्मिक तत्व को न केवल जीवन-दर्शन, बल्कि समाज-दर्शन का भी मूलाधार स्वीकार किया। अरविन्द का मानना था कि मनुष्य के जीवन में लौकिक भावनाओं के साथ-साथ भौतिक, प्राणमय, भावमय और मनोमय प्रगति भी समान रूप से आवश्यक है। वे जीवन-दर्शन में आध्यात्मिकता और सांसारिकता का अद्‌भुत समन्वय करते हैं और इसे समाज-निर्माण के लिए भी अपरिहार्य मानते हैं।

अरविन्द घोष का समाज-दर्शन उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग है। वे समाज को केवल व्यक्तियों का समूह नहीं मानते थे, बल्कि उन्होंने उसे एक जीवित और चेतन इकाई के रूप में समझा। उनके अनुसार समाज निरन्तर विकासशील है और यह विकास मुख्यत: चेतना के क्रमिक उत्कर्ष पर आधारित है। समाज का विकास मनुष्य की प्रवृत्तियों और अंधपरम्पराओं से आरम्भ होकर बुद्धिवाद तक पहुँचता है, फिर उससे भी ऊपर उठकर अंतर्ज्ञान और आत्मानुभूति की ओर अग्रसर होता है। अन्तत: उसका चरमोत्कर्ष आध्यात्मिक चेतना और अतिमानसिक स्थिति में होता है।

अरविन्द ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भी गहराई से समझाया। उनका मानना था कि व्यक्ति समाज के विकास का साधन है और समाज व्यक्ति की परिपूणज्ता का क्षेत्र। यदि व्यक्ति का विकास रुक जाता है तो समाज स्थिर हो जाता है और यदि समाज ठहर जाता है तो व्यक्ति का भी उत्थान सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार उन्होंने व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे के पूरक माना।

समाज-दर्शन के क्षेत्र में अरविन्द का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने समाज की जड़ों को अध्यात्म में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार धर्म और नैतिकता समाज की स्थिरता के लिए अनिवार्य हैं। यहाँ धर्म का आशय किसी संप्रदाय या पंथ से नहीं, बल्कि उस सार्वभौम आध्यात्मिक चेतना से है जो मानवता को एकसूत्र में

बाँध सकती है। उनका मानना था कि केवल भौतिक समृद्धि समाज को स्थायी सुख नहीं दे सकती, उसका आधार अध्यात्म होना चाहिए।

राष्ट्र और समाज के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण गहरा था। उन्होंने राष्ट्र को केवल राजनीतिक संगठन या भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि एक जीवात्मा के रूप में देखा। उनके अनुसार राष्ट्रीयता का उद्देश्य केवल स्वाधीनता प्राप्त करना नहीं, बल्कि आत्मशक्ति और आध्यात्मिक जागरण के माध्यम से विश्व मानवता के लिए मार्गदर्शन करना है।

अरविन्द ने आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए कहा कि ऐसा समाज जाति, वर्ग और ऊँच-नीच से मुक्त होगा। उसमें किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा और हर व्यक्ति को अपनी अन्तर्निहित दिव्यता के विकास का अवसर मिलेगा। यह समाज विज्ञान और कला के साथ-साथ अध्यात्म और नैतिकता पर भी आधारित होगा।

उनका समाज-दर्शन पश्चिमी भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म का अद्‌भुत समन्वय है। उन्होंने समाज को गतिशील और निरन्तर प्रगतिशील माना और यह बताया कि उसका अन्तिम लक्ष्य एक ऐसा विश्व समाज है जहाँ सम्पूर्ण मानवता आध्यात्मिक चेतना में एकीकृत होगी। यद्यपि उनके विचार अत्यधिक आदर्शवादी प्रतीत होते हैं और व्यवहारिक राजनीति में उनका तत्कालीन प्रभाव सीमित रहा, किन्तु उनके समाज-दर्शन में भविष्य की दिशा निहित है।

मनुष्य का जीवन जैसे-जैसे प्रगति करता है, वह अपने को समाज में विभिन्न रूपों में आबद्ध पाता है। वस्तुत: व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक हैं। कोई भी समाज अचानक समुन्नत नहीं हो जाता, बल्कि उसकी उन्नति उसके प्रत्येक सदस्य के विकास पर आधारित होती है। यदि व्यक्ति अपनी सत्ता और प्रगति के प्रति सचेत होता है, तो समाज का भी यह दायित्व बनता है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे जिससे प्रत्येक वर्ग, जाति और व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार आत्म-विकास कर सके और सामूहिक रूप से दिव्य पूर्णता की ओर अग्रसर हो।

श्री अरविन्द ने ऐसे समाज की संरचना को केवल एक संभावना नहीं माना, बल्कि उसे अवश्यम्भाविता बताया। उनके अनुसार परम तत्व जड़ में भी विद्यमान है और सृष्टि का सम्पूर्ण विकास उसी परम सत्य, चित् और आनन्द (सच्चिदानन्द) की ओर उन्मुख है। इसलिए मानव और समाज दोनों का अंतिम लक्ष्य विश्वचेतना की प्राप्ति है।

मानवता के सामूहिक जीवन का इतिहास वास्तव में इसी लक्ष्य की ओर यात्रा है। सहस्राब्दियों के इतिहास में कभी प्रगति और कभी अवनति का अनुभव

करते हुए भी समाज निरन्तर अपने अंतिम उद्देश्य की ओर बढ़ रहा है। इस प्रकार अरविन्द के सामाजिक चिन्तन का मूल आध्यात्मिक है और उसका लक्ष्य संपूर्ण मानव-कल्याण है।

श्री अरविन्द के लिए भारत केवल भौगोलिक इकाई या जनसमूह नहीं है, बल्कि वह एक सजीव और आध्यात्मिक सत्ता है। उनका विश्वास था कि भारत के पास एक विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति है, जो सम्पूर्ण मानवता को मार्गदर्शन प्रदान कर सकती है। इसी दृष्टि से उन्होंने 'विश्वात्मा' की संकल्पना प्रस्तुत की।

उनके अनुसार व्यक्ति की चेतना का व्यापक सार्वभौम चेतना में विलय ही समग्र दृष्टि है। समुदाय, व्यक्ति और मानवता के बीच की कड़ी है। समाज व्यक्ति और मानवता दोनों की परिपूतिज़ में सहायक है। स्वतंत्रता और समस्वरता, विविधता और एकता—इन सबका संतुलन समाज में ही सम्भव है। मानवता शताब्दियों से इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रही है, और उसकी परिपूणज़्ता भी समाज के द्वारा ही सम्भव होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मानुभूति और व्यक्तित्व का सामाजिक विकास से क्या संबंध है और इसका गुप्त एवं प्रकट प्रयोजन क्या है? श्री अरविन्द का उत्तर है कि संसार में भौतिक और मनोमय रीति से जो व्यवहारिक आचरण होता है, वही इस प्रयोजन को पूरा करता है। व्यक्ति के पूर्ण विकास और समाज-व्यवस्था के आदर्श विधान का आधार आपसी आदान-प्रदान पर है। जब समाज में यह आदान-प्रदान होता है तो स्वाभाविक रूप से विभिन्नता भी उत्पन्न होती है। किन्तु समाज की महानता इस बात में है कि वह विभिन्नता के बीच एकता को प्राप्त करे।

अरविन्द के अनुसार समाज का यह ऐक्य किसी व्यक्ति का सीमित लक्ष्य न होकर सम्पूर्ण मानवता का ध्येय है। उन्होंने स्पष्ट किया कि पूर्ण जीवन की प्राप्ति केवल आध्यात्मिक चेतना के माध्यम से ही सम्भव है, और इसी चेतना के आधार पर प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुरूप समाज व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

भारत के सांस्कृतिक आदर्श—उच्चता, विशालता, ऐश्वर्यशीलता, एकात्मकता, विविधता, सौंदर्यता, उत्पादकता और गतिशीलता—इन सबको उन्होंने भारतीय समाज की जीवन्तता का आधार माना। उनके अनुसार किसी भी समाज की प्रगति इन्हीं तत्त्वों से मापी जा सकती है। इसीलिए उन्होंने जाति-पांति और ऊँच-नीच जैसी कुप्रथाओं का विरोध किया और समाज रचना में धर्म को अनिवार्य अंग स्वीकार किया। यहाँ धर्म का आशय किसी विशेष पंथ से नहीं बल्कि उस सार्वभौम आचारधर्म से है, जो समाज को स्थिरता और उच्चता प्रदान करता है।

श्री अरविन्द ने समाज की मानसिक स्थिति को भी ध्यान में रखते हुए समाज परिवर्तन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि जैसे-जैसे समाज का 'समष्टि-मन' अधिक सचेतन होता है, वैसे-वैसे उसकी प्रगति सम्भव होती है। सामाजिक विकास के लिए वास्तविक फल वही है, जिसमें उच्च और समुज्वल आदर्शों का आविर्भाव हो। उनका समाज-दर्शन केवल सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं है, बल्कि उससे ऊपर उठकर आदर्श जीवन की खोज करता है। यह आदर्श मनुष्य को सामाजिक जीवन में नये-नये प्रयोग करने के लिए प्रेरित करता है और इन परीक्षणों के परिणाम स्वरूप समाज को उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति होती रहती है।

व्यावहारिक स्तर पर श्री अरविन्द ने समाज और राज्य की संस्थाओं के बारे में भी विचार किया। उन्होंने कहा कि प्राचीन मनीषियों ने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के माध्यम से जो सिद्धान्त स्थापित किए, वे आज भी प्रासंगिक हैं, बशतेज़ उन्हें जड़ रूप में न मानकर व्यावहारिक वृद्धि और परिस्थितियों के अनुरूप विकास दिया जाए। उनका मत था कि सामाजिक संस्थाओं और प्रणालियों के मूल तत्त्वों को नष्ट किए बिना उन्हें आधुनिक परिवेश के अनुसार विकसित और सुसंगत बनाया जा सकता है।

वे अतीत का केवल सम्मान ही नहीं करते, बल्कि उसे भविष्य निर्माण का आधार भी मानते हैं। इस दृष्टि से उनकी समाजमीमांसा एक गहरी इतिहास चेतना से युक्त है। अरविन्द के अनुसार, समाज-व्यवस्था और राजनीति का आधार जीवन की स्वाभाविक अवस्था है। मानव जीवन और जगत की सुगठित व्यवस्था तभी सम्भव है जब समाज स्वस्थ धर्म का पालन करे। उनका आग्रह था कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्य का निर्धारण स्वयं करे और उसका पालन भी करे। भारतीय शासन प्रणालियों के निर्माण और पुनर्निर्माण में भी उन्होंने इसी सिद्धान्त को महत्व दिया। इस प्रकार उनका समाज-दशज़्न न केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक है, बल्कि व्यावहारिक और क्रियाशील भी है।

श्री अरविन्द का समाज-दर्शन भारतीय संस्कृति की प्राचीन परंपरा और आधुनिक आवश्यकताओं का अद्‌भुत समन्वय है। उन्होंने समाज के निर्माण और संगठन की मूल शर्त के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया, किन्तु इसे रूढ़िगत दृष्टि से नहीं देखा। उनके अनुसार समाज तभी सुव्यवस्थित हो सकता है जब प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और क्षमता के अनुसार कार्य करे। ब्राह्मण को ज्ञान, धमज़ और विद्या का संरक्षक बनना चाहिए, क्षत्रिय को युद्ध, शासन और राजनीति का संचालन करना चाहिए, वैश्य को धनाजज़्न, व्यापार और उत्पादन का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए तथा शूद्र को श्रम और सेवा के क्षेत्र में

अपनी महत्ता सिद्ध करनी चाहिए। इस प्रकार वे समाज को एक ऐसा जैविक अंग मानते थे जिसमें प्रत्येक अंग का अपना महत्व है और किसी को भी उपेक्षित या वंचित नहीं किया जा सकता।

श्री अरविन्द का विशेष बल इस बात पर था कि समाज की यह संरचना जन्म-आधारित न होकर गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित हो। इसी कारण उन्होंने शूद्र तक को शासन, प्रशासन और न्याय में मत व्यक्त करने का अधिकार दिया और यह सिद्ध किया कि उनकी दृष्टि में वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य किसी को नीचा दिखाना नहीं, बल्कि समाज में एक ऐसा कार्य-विभाजन स्थापित करना है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता का पूणज़ उपयोग कर सके और समष्टि जीवन गतिशील और संतुलित रह सके।

उन्होंने आश्रम व्यवस्था और संस्कारों को भी समाज-दर्शन का आधार माना। ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा और आत्मसंयम, गृहस्थ आश्रम में उत्तरदायित्व और उत्पादकता, वानप्रस्थ में विरक्ति और संन्यास में मोक्ष की खोज—इन चारों आश्रमों के द्वारा मानव को जीवन की पूणज़्ता की ओर अग्रसर किया जा सकता है। इस प्रकार की पद्धति केवल व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि समाज को भी एक उच्च आदर्श की ओर ले जाती है।

श्री अरविन्द पर स्वामी दयानन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उन्होंने वेदों के उद्धारक के रूप में दयानन्द को राष्ट्रीय आंदोलन का महत्त्वपूर्ण नेता माना और समाज से अंधविश्वासों तथा कुप्रथाओं के उन्मूलन की आवश्यकता पर बल दिया। दयानन्द की भाँति उन्होंने भी नैतिकता और धमज़ को समाज-निमाज़्ण का केंद्रीय आधार माना। उनका यह दृष्टिकोण बताता है कि उनके समाज-दशज़्न में सुधारवादी और आध्यात्मिक तत्वों का संगम है।

समाज और राज्य के संबंध में अरविन्द का मत अत्यंत गहन है। उन्होंने राज्य को केवल प्रशासनिक संस्था न मानकर समाज के नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का साधन माना। उनके अनुसार राज्य का उद्देश्य केवल सत्ता का केंद्रीकरण नहीं है, बल्कि वह समाज को धर्मसम्मत जीवन की ओर प्रेरित करता है। समाज का प्रत्येक सदस्य अपने स्वधर्म का पालन करे, यही समाज की उन्नति का आधार है। इसी विचारधारा के अंतर्गत वे कहते हैं कि समाज का संगठन प्रकृति और जातीय प्रगति के अनुरूप होना चाहिए।

श्री अरविन्द के समाज-दर्शन का अंतिम लक्ष्य मानव जीवन को आध्यात्मिक चेतना की ओर ले जाना है। उन्होंने भारतीय समाज की विशेषताओं—एकात्मता, विविधता, सौंदयज़्, उत्पादकता और गतिशीलता—को एक साथ देखा और माना कि

इन्हीं से समाज की जीवन्तता का आकलन किया जा सकता है। उनके लिए समाज का विकास केवल बाहरी संरचनाओं या राजनीतिक साधनों पर आधारित नहीं है, बल्कि आंतरिक आत्मविकास और शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति पर टिका हुआ है। इस प्रकार उनका समाज-दर्शन केवल संगठन का ढाँचा नहीं, बल्कि मानवता को उच्चतर आदर्शों की ओर प्रेरित करने वाली दार्शनिक दृष्टि है।

श्री अरविन्द के समाज-दर्शन का व्यावहारिक पक्ष अत्यंत मुखर और गहन है। वे समाज की संरचना और उसके आदर्शों को केवल सैद्धांतिक दृष्टि से नहीं देखते, बल्कि उसे अधिकार और कर्तव्य, जीवन के मूल्य, शासन की विधियाँ, न्याय व्यवस्था और भारतीय मन की उदात्तता से जोड़कर व्याख्यायित करते हैं। उनकी दृष्टि में यदि समाज और राज्य के इन पहलुओं को एकत्रित रूप में न देखा जाए तो कोई भी अन्य व्यवस्था उन्हें स्वीकार्य नहीं होती। इस कारण उनके समाज-दर्शन को समग्र दशज़्न का नाम दिया जाता है।

अरविन्द ने जिस योग का प्रस्तुतीकरण किया, उसे 'समग्र योग' कहा गया। इस योग के अनुसार समाज का उद्देश्य केवल भौतिक या सामाजिक विकास नहीं, बल्कि मानव जीवन का सतत कल्याण और चेतना का सच्चिदानंद के रूप में विकास है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति का वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व समाज की पूर्णता में योगदान करता है। व्यक्ति का यह वैशिष्ट्य जीवन में रहते हुए एकत्व और समग्रता के भाव को स्वीकार करता है। इस योग की दृष्टि से कतज़्व्य पालन का केवल औपचारिक आदेश महत्त्वपूणज़् नहीं होता। सामाजिक संबंधों में सक्रिय और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति निसंदेह श्रेष्ठ होता है, किन्तु वह अहं केंद्रित और केवल नैतिकता पर आधारित व्यक्ति नहीं बनता।

अरविन्द ने आध्यात्म योग को समाज के विकास का माध्यम माना। उनका विचार है कि केवल बाह्य नियम और अनुशासन से समाज का उत्थान संभव नहीं है; समाज का सच्चा विकास तभी होता है जब व्यक्ति की चेतना और मनोविकार दिव्य स्वरूप की ओर उन्मुख हों। उन्होंने साहित्य, कला और दर्शन में भी इस दृष्टि का व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण किया। उनके समाज-दर्शन में ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग का संगम है, जो मानव के परम लक्ष्य की पूर्णता और समाज के दिव्य स्वरूप के निर्माण का मार्ग दर्शाता है। इस प्रक्रिया में मानव और परम तत्व के बीच एकाकारता स्थापित होती है। मानसिक, विवेक और शारीरिक तत्त्व का यह सामंजस्य ही समाज और मानवता के समग्र दिव्य स्वरूप का आधार है।

श्री अरविन्द के समाज-दर्शन में नैतिक सद्‌गुण, परिवार मीमांसा, जनतंत्र और सामाजिक विकास सभी पहलुओं को एकीकृत रूप से देखा गया है। उन्होंने इन

सभी क्षेत्रों को 16 संस्कारों और पुरूषार्थ के माध्यम से जोड़कर समझाया। उनके अनुसार समाज का सर्वोच्च लक्ष्य केवल सामाजिक संस्थाओं के आदर्शों की प्राप्ति नहीं है, बल्कि यह सुनिश्चित करना भी है कि मानव अपने परम शुभ, अर्थात् उच्चतर आध्यात्मिक और नैतिक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो।

समकालीन भारतीय चिन्तन परंपरा में श्री अरविन्द का समाज-दर्शन भारतीय संदर्भों में अत्यंत स्पष्ट और अभिव्यक्त है। उनका समाज-दर्शन न केवल सामाजिक संगठन और कर्तव्यों पर बल देता है, बल्कि मानव चेतना के सर्वोच्च विकास और दिव्य मानवता की प्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द का दर्शन स्वामी दयानन्द के निकट ठहरता है, क्योंकि दोनों ने समाज के आदर्श और मानव कल्याण को आपस में गहराई से जोड़ा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अरविन्द घोष का समाज-दर्शन मूलतः आध्यात्मिक मानवतावाद है। उन्होंने व्यक्ति और समाज दोनों को आत्मोन्नति की प्रक्रिया से जोड़ा और एक ऐसे समाज का स्वप्न देखा जिसमें मानवता अपनी दैवीय सत्ता को पहचानकर सामूहिक रूप से ईश्वरीय जीवन जी सके।

भारतीय शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य का संबंध अति पवित्र माना गया था। यह गौरवपूर्ण और मधुर था। आचार्य शिष्यों के प्रति स्नेह रखते हैं और इनको सब प्रकार से योग्य बनाते हैं। अतः वे अत्यधिक सम्मान के पात्र हैं। शास्त्रों का निर्देश है कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से गुरु के समीप अध्ययन न करने वाला विद्वान ही सभा में शोभित नहीं होता।

भारत में शिक्षा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य का इतिहास। लेकिन अध्यापक शिक्षा के इतिहास का उद्भव हाल ही में हुआ है। हमें बौद्धकाल से पहले संगठित अध्यापक शिक्षा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्राचीन काल में एक अध्यापक (गुरु) ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति होता था जो शिक्षा के कुछ क्षेत्रों में अपने विस्तृत ज्ञान के कारण जन-साधारण की तुलना में कोई विशिष्टता रखता था। शिष्यों में जो सबसे बुद्धिमान होता था, वह गुरु का आसन ग्रहण कर लेता था। अलग से कोई अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम नहीं होता था। अध्यापक शिष्य के रूप में ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में अध्यापन के बारे में सब-कुछ जान जाता था।

❑❑❑